International Journal of Multidisciplinary Trends

E-ISSN: 2709-9369
P-ISSN: 2709-9350
www.multisubjectjournal.com
IJMT 2023; 5(1): 33-35
Received: 11-10-2022
Accepted: 15-12-2022

डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार, भारत

हिंदी दलित कविताओं में सामाजिक चेतना का स्वरूप

डॉ० अभिमन्यु कुमार

प्रस्तावना

अनुभूतियाँ जब इतनी बलवती हो जाती हैं कि उनके अभिव्यक्त न हो पाने की पीड़ा हृदय में ज्ञान का तनाव बनकर रीसने लगती है, तो कविता का सृजन होता है। 'पीड़ा' अनुभूति को शब्द देने का कार्य करती है। क्रौंच के वध से उपजी पीड़ा के कारण ही वाल्मीकि ने कहा था–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[1]

वाल्मीकि के उक्त श्लोक से ही कविता की शुरूआत मानी जाती है। किन्तु ''दलित कविता आदि कवि वाल्मीकि की पीड़ा नहीं है, जो क्रौंच के वध से उपजी थी, बल्कि वह स्वयं क्रौंच की पीड़ा है, जिसे वध के समय उसने भोगा था। यह पीड़ा सचमुच सहानुभूति की पीड़ा से अलग है। दलित कवि का सृष्टा इसीलिए क्रान्तिकारी है, क्योंकि वह द्रष्टा होने के साथ–साथ भोक्ता भी है।''[2] वध के समय भोगे गए इसी गहरी पीड़ा की अनुभूति को प्रो॰ श्यौराज सिंह बेचैन ने अपनी कविता 'क्रौंच हूँ मैं' में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

वाल्मीकि / मैं नहीं हूँ। / 'क्रौंच हूँ मैं'।।
भुक्तभोगी मैं / तुम्हारे तीर का,
दर्द मेरा / औ' मेरा संताप
दूसरों के / पाप का मैं भोगता / अभिशाप।[3]

'बेचैन' की इस कविता में भुक्तभोगी की पीड़ा की गहरी अनुभूति है। उन्हें इस बात को लेकर असंतोष है कि पीड़ा देने वाला अभियुक्त दण्ड भोगे बिना मुक्त घूमता है। उन्हें इस बात की आशंका है कि अभियुक्त दण्ड नहीं पाएगा।

दरअसल दलित साहित्य जीवन का साहित्य है, कला का नहीं। यह उस जीवन का साहित्य है जिसमें जीने का संघर्ष है। यह तृप्त आकांक्षाओं, कलात्मक सौन्दर्य और रसात्मक दिव्यता की अभिव्यक्ति न होकर अतृप्त आकांक्षा की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। ''कुछ आलोचक इस पर आरोप लगाते हैं कि दलित आकांक्षा की अभिव्यक्ति हीनता की अभिव्यक्ति है। इसके लिए वे तर्क देते हैं कि दलित कविता अपने सहयोगी समुदायों के प्रति घृणा और विरोध व्यक्त करती है। सच तो यह है कि दलित कविता का सर्जनात्मक मूल सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन है ऐसी स्थिति में इसके मार्ग में बाधक बनने वाले विचार, व्यक्ति, धर्म और समुदाय का विरोध करना और उसके विरूद्ध संघर्ष की ज्योति प्रज्वलित करना किस तरह हीनता की अभिव्यक्ति मानी जा सकती है, जो रचना कर्म मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा पर केन्द्रित है उसे घृणा और विरोध की संज्ञा देना क्या समाज और साहित्य में यथास्थिति का समर्थन करना नहीं है?''[4]

सबसे पहले यह देखना अनिवार्य है कि हिन्दी का पहला दलित कवि किसे माना जाए। हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' सरस्वती में सितम्बर 1914 में प्रकाशित हुई थी जिसके आधार पर उन्हें हिन्दी का पहला दलित कवि मान लिया गया। किन्तु अब नए तथ्यों के प्रकाश में आने से पता चला है कि स्वामी अछूतानंद ने हीरा डोम से पहले ही दलित कविताओं का लेखन प्रारम्भ कर दिया था और इनकी कविताएँ सन् 1912 में ही छप चुकी थीं।[5] हीरा डोम और स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' की संवेदना और वैचारिकी का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए कंवल भारती ने लिखा है कि यह विचारणीय है कि हीरा डोम भगवान को भी चुनौती देते हैं, जबकि अछूतानंद जी ईश्वरवादी हैं और दलितों की मुक्ति के लिए ईश्वर से अपीलें भी करते हैं। ''स्वामी जी की अन्य काव्य रचनाएँ भी इतिहास–बोध और गंभीर चिंतन की अभिव्यक्तियाँ हैं, जबकि हीरा डोम की एक मात्र उपलब्ध रचना 'अछूत की शिकायत' लोकशैली की रचना होकर भी एक सशक्त दलित कविता के सभी गुणों से भरी–पूरी है। उसमें एक अछूत की सदियों के संताप की आत्मकथा भी है और एक धधकती लाल आग भी है, जो समाज को बदलने की उष्मा भरती है।

निस्संदेह दलित चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति के लिए स्वामी अछूतानंद या हीरा डोम में से किसी एक को प्रथम कवि का स्थान नहीं दिया जा सकता। किन्तु, काल की दृष्टि से हीरा डोम का स्थान स्वामी जी के परवर्ती ठहरता ही है।''[6] यहाँ प्रश्न उठता है कि जब हीरा डोम की कविता में दलित चिंतन के सभी गुण विद्यमान हैं तो फिर उनकी कविता को दलित चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति क्यों नहीं माना जा सकता है? प्रो॰ चमन लाल ने भी इस कविता में दलित स्वर उभरने की बात स्वीकार की है।[7] उन्होंने लिखा है ''कुल मिलाकर बीसवीं सदी के आरम्भ में यदि हीरा डोम द्वारा 1914 में 'सरस्वती' के माध्यम से 'अछूत की शिकायत' रूप में दलित स्वर उभरा तो बीसवीं सदी के अंत तक आते–आते यह शिकायत, शिकायत न रह कर आक्रोश व सृजन बनकर हिंदी साहित्य के केन्द्र में आने को तत्पर है।''[8] दलित साहित्य की इसी विकास–प्रक्रिया में दलित कविता का स्वरूप संवर्द्धित और परिवर्द्धित होता रहा। इसी आलोक में दलित कविता के वैशिष्ट्य का मूल्यांकन आवश्यक है।

दलित कविता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह संघर्ष और साहस की कविता है पराजय और निराशा की नहीं। दलित कविता ने सदियों से शोषित और पीड़ित दलित जनता की पीड़ा को अनुभव और अभिव्यक्त किया है। यहाँ सहानुभूति का स्वर नहीं अपनी अनुभूति का गहन मर्म है। शोषण के भयानक चिह्न उनकी स्मृतियों में कुरेद दिए गए हैं। ये कवि उन स्मृतियों की चोट को व्यक्त करते हैं जो उनकी पुरखों पर शोषण के निशान के रूप में अंकित हैं। आज भी वह जख्म हरा हो जाता है–

ओ, मेरे प्रताड़ित पुरखो
तुम्हारी स्मृतियाँ
इस बंजर धरती के सीने पर
अभी जिंदा हैं
अपने हरेपन के साथ।
तुम्हारी पीठ पर
चोट के नीले गहरे निशान
तुम्हारे साहस और धैर्य को
भुला नहीं पाये हैं अभी तक।[9]

साल, सदी और सहस्त्राब्दी के बदलने का औचित्य क्या है? प्रश्न यह है कि क्या दलितों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है?

बीसवीं सदी जाते–जाते

इक्कीसवीं सदी को / सौंप गई
दलित मजलूमों के / दमन के नए हथकंडे
ऐसे में अपना नया क्या
साल? सदी? सहस्त्राब्दी?[10]

महज क्षोभ और असंतोष प्रकट करने तक ही यह साहित्य सिमट नहीं जाता है। इस कविता में नए युग के आगमन का स्वप्न भी है। एक ऐसा युग जिसके केन्द्र में मानवता हो, आदमी–आदमी के बीच किसी भी प्रकार का भेद न हो। लक्ष्मीनारायण सुधारक की पंक्तियाँ इस संदर्भ में विचारणीय हैं–

आदमी को आदमी से जोड़ दो
इस नये युग को नया अब मोड़ दो
रूढ़ियां प्रचलित पुरानी तोड़ दो
इस नए युग को नया अब मोड़ दो।[11]

इन पंक्तियों में युग परिवर्तन की प्रेरणा और मानवतावादी सोच भी साफ नजर आती है। इस संदर्भ में बाबूराव बागुल का यह विचार सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि 'दलित साहित्य और कुछ न होकर मानववादी साहित्य ही है।'[12]

दलित कविता हिंदू धर्म के विरोध में खड़ी दिखाई पड़ती है वास्तव में यह विरोध हिंदू धर्म की सामन्तवादी, ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विकास और उत्पादन के समस्त साधनों पर द्विजों का कब्जा है। यह दलितों को दलित बनाए रखने की व्यवस्था है। ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद पर आधारित इस व्यवस्था में दलितों के पास न उत्पादन का साधन है, न शिक्षा, न रोजगार, न जमीन और न ही स्वतंत्रता। ऐसी स्थिति में इस जनविरोधी व्यवस्था के प्रति दलित कविता अनास्था प्रकट करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि प्रश्न उठाते हैं कि–

कुआँ ठाकुर का / पानी ठाकुर का
खेत–खलिहान ठाकुर के / गली–मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या? / गाँव? / शहर? / देश?[13]

अस्पृश्यता की समस्या को दलित कविता में प्रमुखता से उठाया गया है। वर्ण व्यवस्था के मनुवादी पोषकों ने इस भीषण समस्या को बनाए रखा है। दलित कविता इस जकड़न को तोड़ने का प्रयास करती है। वर्णव्यवस्था के कुटिल चक्र में पिसते दलितों की वेदना को अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया। ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह कविता इस व्यवस्था पर सोचने और प्रश्न उठाने के लिए विवश कर देती है–

कभी सोचा है
गन्दे नाले के किनारे बसे
वर्ण व्यवस्था के मारे लोग
इस तरह क्यों जीते हैं?
तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें
कभी सोचा है?[14]

दलिता कविता की सोद्देश्यता और प्रतिबद्धता उसकी प्रमुख विशिष्टता है। दलित कविता 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त की विरोधी है क्योंकि उसके लिए बृहत्तर सामाजिक सरोकारों से जुड़कर ही साहित्य की सार्थकता है। यह कविता शोषित, पीड़ित दलित समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करती है। इसमें दलितों के शोषण की मार्मिक और वेदनात्मक अभिव्यक्ति तो है ही, उनके अधिकारों की माँग और क्रान्ति का आह्वान भी है। दलित कविता की प्रतिबद्धता अम्बेडकर चिन्तन के साथ है, जिसकी परिकल्पना जाति और वर्ग–विहीन समाज के निर्माण की स्थापना है। उसका दर्शन समाजवादी और भौतिकवादी है। यही कारण है कि दलित कविता के मूल्यांकन के लिए उसके अपने प्रतिमान है; सामान्य कविता के प्रतिमानों के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

दलित कविता रहस्यलोक में विचरण करने वाली कविता नहीं है और न ही भक्ति के आचरण में विचरण करने वाली कविता है। वह इस लौकिक संसार के ठोस प्रश्नों से सीधा सरोकार रखने वाली कविता है। यह कविता बुद्ध के भौतिकतावादी दर्शन को स्वीकार करती है। यह कविता इस भौतिक जगत में मनुष्यों की लौकिक समस्याओं को अपना केन्द्रीय विमर्श बनाती है। यह सिपर्फ सामाजिक स्तर पर पीड़ित व्यक्ति की कविता नहीं है, बल्कि आर्थिक रूप से शोषित वर्ग की भी कविता है। इस कविता की भौतिकवादी दृष्टि से दलित, मजदूर, गरीब और उपेक्षितों की सामाजिक आर्थिक समस्याओं को पूरी ईमानदारी से उजागर किया है।

दलित कविता में वर्णित श्रृंगार अन्य काव्यधाराओं से भिन्न है दलित कविता में स्त्री की कमनीयता देह से नहीं है, उसके संघर्ष

से है। इसमें प्रेमी प्रेमिका के केवल दैहिक प्रेम को स्वीकृति नहीं है। दलित कविता इस अर्थ में नारीवादी नहीं है कि सारी औरतें निर्दोष और सारे पुरुष दोषी हैं। यहाँ स्त्रियाँ श्रम और संघर्ष की शक्ति से पुरुषों के बराबर का ओहदा पाती हैं। स्त्री का यह चरित्र ही प्रेम है। दलित साहित्य में स्त्री अबला होकर श्रद्धा की पात्र नहीं बनती बल्कि अपनी संघर्ष शक्ति के बूते श्रद्धा और सम्मान पाती हैं। दलित कविता स्त्री स्वाधीनता की पक्षधर कविता है।

दलित कविता अंतर्वस्तु की दृष्टि से बहुआयामी तो है ही, शिल्प की दृष्टि से भी विशिष्ट है। विशिष्ट इन अर्थों में कि इसकी भाषा और इसका शब्द विन्यास इतना सहज और सरल है कि उसकी अंतर्वस्तु तक पहुँचने के लिए अलंकारों, शब्दशक्तियों और छंदों की कारा से जूझना नहीं पड़ता है। मुक्त छंद की प्रधानता होते हुए भी दलित कविता में लयात्मकता और गेयता का गुण उसे विशिष्ट बनाता है।

दलित कविता, दलित स्वाभिमान और दलित मुक्ति के स्वर को आगे लाने का कार्य करती है। दलितों के अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने वाली कविताओं का अपना अलग सौन्दर्यशास्त्र है और अपने प्रतिमान भी। विशिष्ट अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए सामान्य निकस अपर्याप्त थे इसीलिए इस कविता धारा के मूल्यांकन के लिए हमें विशिष्ट प्रतिमानों को ही आधार बनाना चाहिए। दलितों के स्वानुभूत मर्म को तभी सही ढ़ंग से उद्घाटित किया जा सकता है जब उसके अनुरूप प्रतिमान हों।

संदर्भः

1. संस्कृत निबंधावलि, रामजी उपाध्याय, पृष्ठ 24.
2. दलित साहित्य की अवधारणा, कंवल भारती, पृष्ठ 163.
3. क्रौंच हूँ मैं, श्यौराज सिंह 'बेचैन', पृष्ठ 20.
4. दलित साहित्य की अवधारणा, कंवल भारती, पृष्ठ 153.
5. चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य, संपा॰ डॉ॰ श्यौराज सिंह 'बेचैन', पृष्ठ 152.
6. वही, पृष्ठ 154.
7. दलित साहित्य : एक मूल्यांकन, प्रो॰ चमन लाल, पृष्ठ 60.
8. वही, पृष्ठ 60.
9. बस्स! बहुत हो चुका, ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 14.
10. हार नहीं मानूँगा, ईश कुमार गंगानिया, पृष्ठ 12.
11. दलित साहित्य की अवधारणा, कंवल भारती, पृष्ठ 154.
12. दलित साहित्य : एक मूल्यांकन, प्रो॰ चमन लाल, पृष्ठ 60.
13. सदियों का संताप, ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 13.
14. बस्स! बहुत हो चुका, ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 51